

गीत में 'घर' और 'गांव': अपनी जड़ों की तलाश

वेदप्रकाश अमिताभ

इधर के समूचे साहित्य में यह चिन्ता केन्द्रस्थ होती जा रही है कि 'संवेदना' का क्षरण हो रहा है और अमानवीयकरण का शिकंजा कसता जा रहा है। इधर के गीतकारों ने इस समस्या को बहुत गंभीरता से लिया है क्योंकि गीत की आधारशिला ही किसी न किसी किस्म की मानवीय संवेदना है। औद्योगीकरण, महानगरीकरण, अपसंस्कृति, कुत्सित राजनीति आदि के मिले-जुले प्रहार से जहां मूल्य क्षत-विक्षत हुए हैं, वहीं मनुष्य मात्र की संवेदनशीलता कुंठित होने को बाध्य हो रही है। इधर के गीतों में 'नवगीत' के शुरुआती दौर की तरह प्रकृति-बिम्बों में रस लेने और 'चुटकीभर चांदनी' तथा 'चम्मचभर धूप' से तृप्त होने की पवृत्ति कम हुई है। लेकिन गांव, घर अब भी याद आना स्वाभाविक है। इसी तरह पारिवारिक रिश्तों के प्रति एक ललक भी इधर के गीतों में दीप्त हुई है। यह भी 'संवेदना' की रागात्मकता को बचा लेने की छटपटाहट का एक जरूरी हिस्सा है। आज कई पीढ़ियों के गीतकार सक्रिय हैं, उनमें वर्गभेद, विचारभेद के बावजूद, संवेदना के क्षरण को रोकने के प्रश्न पर बहुत निकटता दिखायी देती है। नईम, उमाशंकर तिवारी, बुद्धिनाथ मिश्र, गुलाब सिंह, माधव मधुकर, स्व० रवीन्द्र भ्रमर, उद्भ्रांत, विद्यानंदन राजीव, सोमठाकुर, यशमालवीय, दिनेश सिंह, डॉ० बेचैन, अमरनाथ श्रीवास्तव के इस दशक में रचे गये गीतों की अंतर्वस्तु में हलाहल की भीषणता में जीवन का अभूत बचना लेने का मनोभाव सामान्य और नगण्य नहीं है।

कुछ समय पूर्व स्व० रवीन्द्र भ्रमर का एक बहुत सादा सा दखिने वाला गीत पढ़ने में आया था—'एक पुरानी छत के नीचे/हम तुम मिले बहुत दिन बाद'। यह गीत गृहस्थ जीवन में बुरी तरह उलझे पति पत्नी को बहुत दिन बाद मिले कुछ अंतरंग क्षणों की बुनावट है। इसमें 'गौने' की सुध है, 'यादों की क्यारीं हैं' और इनके समानान्तर 'साधों की सूनी ड्यौड़ी'। आज के व्यस्त जीवन में सबसे मधुर संबंध दाम्पत्य जीवन का रस भी सूख चला है, साथ-साथ हंसना-रोना भी दुर्लभ हो गया है। रागात्मकता पर गहराते संकट को गीतकार ने गीत के मुहावरे में बहुत सलीके से कहा है—

इस क्षण गुनते प्रीत पुरानी
उस क्षण बुनते नयी कहानी
साथ-साथ हंसने-रोने के
ये सिलसिले बहुत दिन बाद।

हंसना और रोना, मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाएं हैं। यदि वे बाधित हैं, कोई दुखी होने पर रो नहीं पाता और खुश होने पर हंस नहीं पाता, तो यह हर दृष्टि से चिंतनीय विषय है। विद्यानंदन राजीव ने भी इस विवशता को लक्ष्य किया है—

रोने को मन तो होता है
आंसू हो तो कोई रोये

यदि कुंवर बेचैन 'कक्ष', 'आंगन', 'द्वार', 'नहीं छत' को बहुत लगाव के साथ याद करते हैं तो इंदिरा मोहन सीधे-सीधे प्यार सरीखी रागात्मक शक्ति खो जाने से व्यथित हैं—'सिर झुका मनुहार करती साधना/मांगती उल्लास के दो चार पल'। आर्थिक तनाव, महानगरीय अकेलापन-अजनबीपन और स्वार्थप्रवृत्ति का प्रसाद आदि अनेक कारण इस त्रासदी के लिए जिम्मेदार है और वे गीतकारों के दृष्टिपथ में हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि पुरा मूल्यों के प्रति कुछ गीतों में मोह का भाव है। लेकिन यह मोह 'नास्टोल्जिया' के रूप में नहीं है। यथार्थ से टकराने के बाद एक सकारात्मक विकल्प की तलाश का मनोभाव इसके मूल में है।

‘किस्से सवा लाख के’ शीर्षक गीत (दिनेश सिंह) में पीढ़ी—अंतराल, आधुनिक सोच और व्यवहार के संदर्भ में कुछ पुरानी किन्तु मूल्यवान् चीजों की उपेक्षा का दर्द मुखर है—

इस नयी हवा में
लकड़ी के
देहरी दरवाजे ऐंठे हैं
दादा के
थके हाथ
तुलसी की माला लेकर बैठे हैं

इस गीत में ‘पगडंडी’, ‘कनातें’, ‘पूजा की थाली’ आदि के ब्याज से गीतकार का संकेत है कि नयी हवा में पुरानी आस्थाओं को उड़ा देना उचित नहीं है। इसी तरह अमरनाथ श्रीवास्तव के एक गीत में ‘पीहर’, कोमल अनुभूतियों, स्वस्थ परंपराओं, प्रासंगिक मूल्यों के प्रतिनिधि के रूप में केन्द्रस्थ है और उसका विघटन गीतकार को बुरी तरह छील देता है। जिस पारिवारिक व्यवस्था में कुत्ते और तोते को सुरक्षा मिली हुई थी, वहां आज परिदृश्य अमानवीयता से आकांत हो गया है—

जोड़ रही है उखड़े
तुलसी के चौरों को
आया है द्वार का
पहरुआ भी कौरों को
साझे का है
भूखा सो गया सुआ।

यह उस गांव की स्थिति है, जिसके प्रति इधर के गीतों में बहुत ललक और विश्वास का भाव है। महानगरीय जटिलताओं से ऊबा गीत—मन जब तब ‘गांव’ की आत्मीयता और सदाशयता को जीना चाहता है, नये से पुराना हो जाना चाहता है। इस मनोभाव के पीछे परिवर्तन के चक्र को पीछे मोड़ने की मानसिकता नहीं लगती। इसे यथास्थिति नजरिया भी शायद नहीं कहा जा सकता है।

आधुनिकता की कई वैशाखियां दिल में लगी थी
ग्रहण अब वे बन गयीं हैं जिन्दगी के वास्ते
छोड़ दूं प्राचीनता के पांव ले लूं
अपना गांव ले लूं

घर और ‘गांव’ की भूख नवगीत और जनगीत दोनों में है। जीवन—युद्ध में घर विश्राम—शिविर है और मूल्यों के विघटन के दौर में थोड़ी बहुत आश्वस्ति ‘गांव’ में बची हुई है। ‘नीड़ के तिनके/अगर चुभनें लगे/पंछियों को फिर कहां पर ठौर है’ (कुंवर बेचैन) यह मात्र मासूम सा सवाल नहीं, प्यार और आत्मीयता की जरूरत का उद्घोष भी है। इन गीतकारों को ऐसा भ्रम नहीं है कि गांव में और परम्परागत संयुक्त परिवार में सब कुछ ठीक—ठाक है, सब कुछ ग्राह्य है। वे जानते हैं कि इस परिवेश में ‘गुलाब और नागफनी’ है। कुछ गीतकारों ने ‘घर को वनवास दिये/जंगल को घर लाये’ (गुलाब सिंह) आदि लिखिकर स्थिति की भयावहता को जताया है।

‘घर’ गीतकारों के लिए ईंट गारे का निर्माण नहीं है। वह अपनत्व, सांत्वना और सुरक्षा का प्रतीक चिन्ह है।

नगर—महानगर में रोजी—रोटी की तलाश में जो छत मिलती है, जो दीवारें किराये पर जुटायी जाती हैं, वे 'घर' नहीं हैं। विनोद निगम ने 'रोटी मुझे खींच लायी है, इस जलते घर में' लिखते हुए इसी सत्य का उद्घाटन किया है। उनकी 'घर' की अवधारणा में 'खुशनुमा आंगन', 'खुशबू के हस्ताक्षर', 'चंदन की भाषा' समाहित हैं—

एक खुशनुमा आंगन से मैं आया था चलकर
संसों में थे, फूल, हवा, खुशबू के हस्ताक्षर
दृग में भी भाषा चंदन की, वंशी कानों में
एक नदी बहती थी मुझमें, एक मुझे छूकर

सत्यनारायण ने अपने गीत में फ्लैट संस्कृति की अजनबियत, निस्संगता आदि को रेखांकित करते हुए माना है कि कंकरीट के जंगल में 'घर' नहीं मिल पाता।

आ गये हम
नये इस फ्लैट में, पर
पूँछती है मां
कहां है घर?

माहेश्वर तिवारी के प्रसिद्ध नवगीत में जिस घर की याद आती है, वह ग्रामांचल का कोई अपनत्व और अकृत्रिमता से सम्पन्न ठिकाना है, कोई 'फ्लैट' या कोठी नहीं—

नीम की छोटी छरहरी छांह में डूबा हुआ मन
द्वार आधा झुका बरगदः पिता मांः बंधा आंगन
सफर में जब भी दुखे हैं पांव—घर की याद आयी।

इस गीत में पिता और मां को बरगद और 'आंगन' के जिन दो बिम्बों के माध्यम से मूर्त किया गया है, वे अत्यंत सटीक हैं, आशीष, सुख, संरक्षण आदि अनेक भाव इनसे जुड़े हैं। जाहिर है, यह 'नास्टेल्लिज्या' नहीं है बेहदूगियों और विडम्बनाओं की नकारात्मकता में कुछ सकारात्मक पाने की तलाश में अपनी जड़ों को टटोलना है।

कतिपय नये गीतकारों ने 'गांव' की चर्चा भी हमारी जनतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों की व्याप्ति को नापने के लिए की है। इस लोकतंत्र में 'लोक' (गांव) कितना सुखी है। विद्यानंदन राजीव ने 'ग्राम की कहो' गीत में बहुत निर्भीक होकर पूछा है—'वादे के साथ वहां पहुंचा है/कितना कुछ कहो रामराज। अथवा जनसत्ता के/भोले राजा के सिर/अब भी है कांटों का ताज'। कैलाश गौतम कृत 'भाभी ने चिट्ठी भेजी है प्यारे—प्यारे देवरजी' और अवध बिहारी श्रीवास्तव कृत 'पत्र नहीं आया' में भी गांव के निर्मल मन में घुलती विषैली विसंगतियों पर क्षोभ और चिन्ता की अभिव्यक्ति है। 'गांव' की निर्मलता के कलुषित होने के पीछे गांव की प्रतिभाओं का पलायन, गांव में जन्मे लोगों द्वारा ही गांव की उपेक्षा आदि कई कारण हैं। 'धान पंकिल खेत जिनको रोपना था। बढ़ गये वे हाथ धो बहती नदी में (बुद्धिनाथ मिश्र) जैसी पंक्तियों में गीतकार की व्यथा को अनुभव किया जा सकता है। अपसंस्कृति के प्रचार—प्रसार ने लोक संस्कृति को विकृत किया है। कई शताब्दियों से पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिले लोक—संस्कार आज भी अप्रासंगिक नहीं हैं। प्रश्न यह है कि उन पर छाये छद्म आवरण को कैसे भेदा जावे—

पुरखों से मिले हुए संस्कार—नाट्यबीज

चैती से फागुन तक ढेरों त्यौहार-तीज
मंच पर धंसे कुहरे कैसे बढ़कर काटूँ?

गीतकारों का विश्वास है कि कुहरे से युद्ध में रोशनी की विजय अवश्य होगी। फणीश्वरनाथ रेणु की तरह उनकी मान्यता भी है कि यहां शूल हैं तो फूल भी हैं। रेणु ने 'परती परिकथा' में ढेर सारे गुलाब उगाने की जो बात कही है, उसका संबंध विसंगतियों-विडम्बनाओं के बीच सुगंधित संवेदनाओं और मूल्यों को रोपने से है। यहां रेणु का स्मरण इसलिए कि 'नवगीत' भी एक तरह से पिछड़े ग्रामांचल की जड़ों तक पहुंचने की वैसी ही कोशिश रही है, जैसी रेणु की आंचलिक कृतियों में थी। नये गीतकारों में यथार्थ के प्रति एक सकारात्मक नजरिया है। जो कुछ मूल्यवान है उसके बचने का विश्वास कई गीतों में है- 'खेलते बच्चे दिखेंगे/खेल के मैदान में फिर/कुछ निरापद पर मिलेंगे/छद्म के अवसान में फिर'।

सम्पर्क-

डी-131, रमेश बिहार

ज्ञान सरोवर, अलीगढ़

(उ.प्र.)-202001

मो.-09837004113